संसद का अनुमोदन मुश्किल

राष्ट्रीय सहारा, 5-2-16

समलैंगिकता

ज्ञानेंद्र रावत

लम्बे अरसे से अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत समलैंगिकों के लिए अब एक नई उम्मीद जगी है। कारण सुप्रीम कोर्ट ने गत दिनों समलैंगिक रिश्तों को अपराध बताने वाली आईपीसी की धारा 377 के खिलाफ दायर सभी आठ उपचारात्मक याचिकाओं पर सुनवाई को अपनी मंजूरी देते हुए, इस मामले को पांच सदस्यीय संविधान पीठ को सौंप दिया है। सुप्रीम कोर्ट का यह ऐतिहासिक फैसला है, जो उपचारात्मक याचिकाओं पर पहली बार लिया गया है। मुख्य न्यायाधीश टी. एस. ठाकुर की अध्यक्षता वाली तीन सदस्यीय पीठ ने गैर सरकारी संगठन नाज फाउंडेशन एवं अन्य की दायर उपचारात्मक याचिकाओं पर उनके वकीलों की संक्षिप्त दलीलें सुनने के बाद यह फैसला सुनाते हुए कहा कि चूंकि इस मामले में संविधान से संबंधित मुद्दे शामिल हैं, इसलिए बेहतर होगा कि इसे पांच सदस्यीय संविधान पीठ को सौंप दिया जाए।

गौरतलब है कि अप्राकृतिक यौनाचार को अपराध बताने वाली आईपीसी की धारा-377 को संवैधानिक घोषित किए जाने के फैसले पर पुनर्विचार किए जाने की आठ सुधारात्मक याचिकाएं दायर की गई थीं। इनमें केंद्र सरकार और समलैंगिक अधिकारों से जुड़े गैर सरकारी संगठन नाज फाउंडेशन सहित आठ सुधारात्मक याचिकाएं शामिल थीं। उपचारात्मक याचिका सुप्रीम कोर्ट में राहत का अंतिम विकल्प होती है। इन पर चैंबर में ही सुनवाई होती है। लेकिन यह पहला मौका है, जब कोर्ट ने उपचारात्मक याचिका पर खुली अदालत में सुनवाई की और विचार के लिए उसे संविधान पीठ को सौंप दिया। सुनवाई के दौरान चर्चेज ऑफ नॉर्दन इंडिया और ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड के वकीलों ने समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी से बाहर रखने के खिलाफ अपनी दलीलें दीं। इस बारे में सरकार की राय है कि वयस्कों द्वारा आपसी सहमति से बनाए समलैंगिक सम्बन्ध अपराध न माने जाएं। दरअसल, सुप्रीम कोर्ट में दायर इस याचिका में केंद्र सरकार ने 11 दिसम्बर 2013 के सुप्रीम कोर्ट के फैसले पर पुनर्विचार के लिए 76 आधार दिए हैं। वहीं नाज फाउंडेशन का तर्क है कि यह फैसला समलैंगिक समुदाय के मौलिक अधिकारों के हनन के समान है। इस निर्णय में कानून से जुड़ी कुछ त्रुटियां हैं, जिन्हें दुरुस्त किए जाने की जरूरत है। फाउंडेशन के अनुसार सुप्रीम कोर्ट इस दलील पर विचार करने में विफल रही है कि धारा-377 से पुरुषों के बीच सम्बन्ध में उनके स्वास्थ्य के अधिकार का उल्लंघन होता है। असलियत यह है कि मौजूदा कानून के तहत अप्राकृतिक यौनाचार दंडनीय अपराध है, जिसके लिए उम्रकैद तक की सजा हो सकती है। केन्द्र सरकार की पुनर्विचार याचिका के विरोध में सुप्रीम कोर्ट में एक याचिका और दायर की गई है, जिसमें कहा गया है कि धारा-377 रद्द कराने के लिए सुप्रीम कोर्ट में आने का संवैधानिक अधिकार सरकार के पास नहीं हैं, वह अपने ही कानून को निरस्त कराने के लिए कोर्ट में नहीं आ सकती है। ऐसा कोई उदाहरण इतिहास में नहीं है, इसलिए सरकार की पुनर्विचार याचिका को रद्द कर दिया जाना चाहिए।

- यदि सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ ने अपना फैसला नहीं पलटा तो संसद पर ही इस पर अंतिम निर्णय का अधिकार होगा। हालात इसकी गवाही नहीं देते कि संसद में इसके पक्ष में फैसला होगा। राजनीतिक दलों की इस बाबत चुप्पी यही संकेत है
- हाईकोर्ट में सुनवाई के समय गृह मंत्रालय ने अपने शपथ पत्र में कहा था कि विधि आयोग ने अपनी 42वीं रिपोर्ट में धारा-377 को बरकरार रखने की सिफारिश की थी, क्योंकि समाज में इसके खिलाफ जबरदस्त रोष व्याप्त है

सरकार के पास तीन मौके आए तब यदि सरकार चाहती तो धारा-377 रद्द कर सकती थी। इस बाबत सरकार को पहला मौका सन् 2000 में मिला। तब विधि आयोग ने अपनी 172वीं रिपोर्ट में इस धारा को निरस्त करने की सिफारिश की और कहा था कि यह धारा निजता और सम्मान के अधिकारों का उल्लंघन करती है। दूसरा मौका 2012 में दिल्ली गैंगरेप के बाद गठित जस्टिस वर्मा कमेटी की सिफारिशों पर आपराधिक कानून में संशोधन के समय आया था। उस समय कमेटी ने रेप के लिए कड़े दंड की सिफारिश की और कहा था कि रेप को जेंडर न्यूट्रल यानी लिंग निष्क्रिय बना दिया जाये। यानी रेप की शिकायत पुरुष और महिला दोनों कर सकेंगे। कमेटी ने धारा-377 समाप्त करने की सिफारिश की थी। विडम्बना यह कि अप्रैल 2013 में वर्मा कमेटी की सिफारिशों पर सरकार ने संशोधन तो किए, लेकिन धारा-377 को ज्यों का त्यों रहने दिया, जबकि इस धारा को रद्द करने का मामला सुप्रीम कोर्ट में लंबित था। तीसरा मौका सरकार को राष्ट्रीय महिला आयोग ने वर्मा कमेटी की सिफारिशों के समय दिया। उस समय आयोग ने सरकार को धारा-377 रद्द करने व कानून को जेंडर न्यूट्रल बनाने का सुझाव दिया था। लेकिन तब सरकार इस बारे में सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिए हर फैसले को मानने को तैयार थी।

गौरतलब है कि साल 2009 में नाज फाउंडेशन की ओर से दायर याचिका पर दिल्ली हाईकोर्ट ने अपने फैसले में कहा था कि समलैंगिक सम्बन्धों को अपराध के दायरे से बाहर रखा जाए। उसके बाद देश के धार्मिक संगठन हाईकोर्ट के फैसले को सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों के खिलाफ करार देते हुए इसके विरोध में सुप्रीम कोर्ट गए थे। सुप्रीम कोर्ट ने दिल्ली हाईकोर्ट का 2 जुलाई 2009 का निर्णय निरस्त करते हुए कहा था कि धारा-377 असंवैधानिक नहीं है। इस मुद्दे पर चर्चा करना और निर्णय लेना विधायिका पर निर्भर करता है। आईपीसी की धारा-377 हटाई जाए या नहीं, यह संसद का काम है। दरअसल, धारा-377 पर सुप्रीम कोर्ट में दायर उपचारात्मक याचिका की राह आसान नहीं है। जब यह मामला हाईकोर्ट में चल रहा था, तब सरकार का तर्क था कि धारा-377 के दुरुपयोग के कोई प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि साल 1860 में अस्तित्व में आने के बाद के 150 सालों में सिर्फ 200 मामलों में ही लोगों को सजाएं दी गई। यही नहीं, पूरे देश में समलिंगी सेक्स करने वाले लोगों की तादाद सिर्फ 25 लाख के करीब है। इसके अलावा, समलैंगिकों में एड्स का फैलाव भी ज्यादा नहीं है। एक अनुमान के अनुसार, देश में कुल 1.75 लाख समलैंगिक एचआईवी संक्रमित हैं।

यह सच है कि हाईकोर्ट में सुनवाई के समय गृह मंत्रालय ने अपने शपथ पत्र में कहा था कि विधि आयोग ने अपनी 42वीं रिपोर्ट में धारा-377 को बरकरार रखने की सिफारिश की थी, क्योंकि समाज में इसके खिलाफ जबरदस्त रोष व्याप्त है। विडम्बना यह कि 2009 में हाईकोर्ट का फैसले के बाद मंत्रिसमूह ने कहा था कि इस फैसले में कोई कमी दिखाई नहीं देती है। अब इस बारे में 11 दिसम्बर 2013 को सुप्रीम कोर्ट का दिया फैसला बदल पाएगा, असंभव प्रतीत होता है। वैसे देश में इस मुद्दे पर विरोध के स्वर ज्यादा मुखर और उग्र हैं। अब यदि सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ ने अपना फैसला नहीं पलटा तो संसद पर ही इस पर अंतिम निर्णय का अधिकार होगा। हालात इसकी गवाही नहीं देते कि संसद में इसके पक्ष में फैसला होगा। राजनीतिक दलों की इस बाबत चुप्पी का यही संकेत है।

मनरेगा का मूल्यांकन

देनिक जागरण, 6-2-16

भूमिका, प्रभाव और जरूरत की कसौटी पर ग्रामीण रोजगार कानून मनरेगा की उपयोगिता रेखांकित कर रहे हैं

▲जयराम रमेश▲

दो फरवरी को महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून यानी मनरेगा के दस वर्ष पूरे हो गए। यह कानून नागरिक संगठनों के साथ लंबी मंत्रणा के बाद बना था और अपने आकार-प्रकार तथा प्रभाव के मामले में बेजोड़ था। इसका स्वरूप भी अन्य सामाजिक योजनाओं से अलग बनाया गया। इस कानून की पूरी रूपरेखा मांग आधारित थी। मनरेगा ने वाम दलों को आकर्षित किया, दक्षिणपंथियों को उकसाया और केंद्र को विकास के विमर्श का हिस्सा बनाए रखा। अब जब मनरेगा को लागू हुए एक दशक पूरा हो गया है तो इस अवसर पर तीन महत्वपूर्ण सवालों के जवाब तलाशे जाने चाहिए। पहला, क्या मनरेगा ने अपनी भूमिका निभाई? दूसरा, आज मनरेगा के साथ कैसा व्यवहार हो रहा है? और तीसरा, क्या हमें अभी भी इस कानून की जरूरत है?

हम मनरेगा के प्रदर्शन का दो तरीके से मूल्यांकन कर सकते हैं। पहला, क्या इसने दिहाड़ी रोजगार के जरिए ग्रामीण परिवारों की आजीविका सुरक्षा को बढ़ाया। अथवा क्या इस कानून ने ग्रामीण सशक्तीकरण के एक साधन के रूप में अपनी भूमिका अदा की? यह योजना हर साल कुल ग्रामीण परिवारों में से एक चौथाई परिवारों को 40-45 दिनों तक रोजगार उपलब्ध कराती है। यह रोजगार थोड़े बहुत कृषि कार्य जैसे गैर मनरेगा कामों के अतिरिक्त है। इससे साबित होता है कि ग्रामीण आय को बढ़ाने में इस कानून की बड़ी भूमिका है। दूसरी तरफ मनरेगा और ग्रामीण सशक्तीकरण पर लोगों का मत बंटा हुआ है। दरअसल इसकी वजह अलग-अलग राज्यों में इसके क्रियान्वयन में अंतर होना है। इसके बावजूद इस कानून की सफलता को नकार नहीं सकते। उदाहरण के लिए मनरेगा की सबसे बड़ी उपलब्धि ग्रामीण मजदूरी में बढ़ोतरी रही है। मनरेगा के धुर विरोधी भी मानेंगे कि यह योजना घर के पांच किलोमीटर के अंदर समान मजदूरी दर पर काम उपलब्ध कराती है। ऐसे में इसने महिलाओं को काम का महत्वपूर्ण अवसर उपलब्ध कराया है और लैंगिक समानता को बढ़ावा दिया है। इसमें महिलाओं की भागीदारी करीब 50 प्रतिशत तक बरकरार रही है। मनरेगा के अभाव में ये महिलाएं या तो बेरोजगार रहतीं या फिर अर्धबेरोजगार रहतीं। आंकड़ों से स्पष्ट है कि मनरेगा ने पलायन पर भी रोक लगाई है। मनरेगा ने ग्रामीण परिदृश्य को बदला है और भूमि विकास, पानी के परंपरागत स्रोतों तथा सिंचाई के साधनों में सुधार के साथ जल संरक्षण के कामों के जरिए इसने प्राकृतिक संसाधनों को नया रूप दिया है। इसने गरीबी को भी कम किया है। हाल ही में एक सर्वे में बताया गया कि मनरेगा ने आदिवासियों में गरीबी 28 फीसद और दलितों में 38 फीसद कमी लाने में सफलता पाई है। इसके अलावा मनरेगा के जरिये संस्थागत परिवर्तन भी आया है। साल 2008 और 2014 के बीच में बिना किसी तामझाम के दस करोड़ बैंक और पोस्ट ऑफिस खाते खोले गए और कुल मजदूरी के अस्सी फीसद हिस्से का इसके जरिये भुगतान किया गया। यह सही मायने में वित्तीय समावेशन था, क्योंकि इससे भ्रष्टाचार और रिसाव में कमी सुनिश्चित हुई।

आज मनरेगा किस हालत में है? इसे विफलताओं के स्मारक के रूप में परिभाषित करने के बाद इस सवाल का जवाब पूरी तरह साफ हो जाता है। न्यूनतम मजदूरी में वृद्धि और साथ ही बजट को कृत्रिम रूप से सीमित करने के साथ इस योजना की मांग में गिरावट देखी जा रही है। रोजगार के कुल श्रम दिवसों की संख्या वित्तवर्ष 2013-14 में 220 करोड़ की तुलना में वित्तवर्ष 2014-15 में घटकर 166 करोड़ हो गई। इसके साथ ही इस साल मजदूरी भुगतान में 40 फीसद की देरी हुई है। कुल मिलाकर बीते दो वर्षों में मनरेगा को लेकर सरकार का रवैया ढुलमुल रहा है। 2014-15 में योजना के मजदूरी और सामग्री अनुपात को 60:40 से 51:49 करने का प्रयास किया गया। योजना के श्रम आधारित स्वरूप में बदलाव करने का विचार इस कानून के मुख्य उद्देश्य को प्रभावित करेगा। हालांकि सरकार ने इस सुझाव से पैर खींच लिए, लेकिन धन का आवंटन अप्रत्याशित बना हुआ है। मौजूदा साल में राज्यों के पास फंड का अभाव है और वे नए काम देने और मजदूरी के भुगतान करने की स्थिति में नहीं हैं। जनवरी 2016 तक 14 राज्यों के फंड बैलेंस नकारात्मक दर्शा रहे थे। केंद्र में सरकार बदलने के बाद मनरेगा को सफल बनाने वाले दो प्रमुख घटक यानी राजनीतिक इच्छाशक्ति और इस कानून पर विश्वास छिन गए हैं।

मनरेगा की आलोचना मुख्य रूप से दो बातों के लिए की जाती है। एक, इस योजना में भारी पैमाने पर रिसाव हौता है और दूसरी, इसमें काम के नाम पर गड्ढे खोदे और भरे जाते हैं, जिसकी कोई उपयोगिता नहीं है। ये दोनों आलोचनाएं बढ़ा-चढ़ाकर पेश की गई हैं और बौद्धिक आलस्य और वैचारिक संकीर्णता पर आधारित हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि दूसरी योजनाओं की तरह मनरेगा भी भ्रष्टाचार की समस्या से जूझ रही है। भ्रष्टाचार के साथ कड़ाई से निपटने की जरूरत है, लेकिन फंड में कटौती इसका कोई हल नहीं है। मनरेगा आइटी और समुदाय आधारित जवाबदेही तंत्र जैसे सोशल ऑडिट के जरिये भ्रष्टाचार से लड़ती रही है। तथ्य यह है कि बहुत कम ही योजनाएं हैं जो सौ फीसद तकनीक से जुड़ी हुई हैं और उनसे संबंधित आंकड़ों को सार्वजनिक किया गया है। मनरेगा के तहत होने वाले कामों के स्थायित्व और उपयोगिता से जुड़ी चिंताओं को 2013 में इसमें नए कामों को शामिल कर दूर करने का प्रयास किया गया।

कुछ राज्यों या जिलों में घटिया क्रियान्वयन अथवा भ्रष्टाचार के कारण इस कानून की जरूरत और उपयोगिता का फैसला नहीं किया जा सकता है। मनरेगा का आकलन करने के दौरान हमें यह जरूर ध्यान रखना चाहिए कि यह एकमात्र ऐसा साधन है जो ग्राम पंचायतों को सशक्त करता रहा है। कुल कामों का पचास फीसद ग्राम पंचायतें निष्पादित करती हैं। इसके साथ ही सोशल ऑडिट से जवाबदेही सुनिश्चित होती है। अन्य किसी योजना में इतनी बड़ी मात्रा में फंड जारी नहीं हुआ है। इसमें औसतन पंद्रह लाख रुपये की राशि प्रति वर्ष सीधे ग्राम पंचायतों को जारी की जाती है। इस प्रकार यदि हम ग्रामसभा से लेकर लोकसभा में विश्वास करते हैं तो मनरेगा की आधारभूत संरचना का त्याग नहीं किया जाना चाहिए। इस योजना की लगातार समीक्षा और मूल्यांकन की जरूरत है। मनरेगा का ध्यान अति पिछड़े इलाकों के वंचित समुदायों और कौशल विकास पर केंद्रित किया जाना चाहिए। इसे 2013 में मनरेगा का हिस्सा बनाया गया था और आज इसमें विस्तार की जरूरत है। इसके अतिरिक्त मनरेगा को तुरंत सामाजिक- आर्थिक जाति गणना से जोड़ा जाना चाहिए। मनरेगा के लिए राजनीतिक समर्थन में निरंतरता सबसे ज्यादा जरूरी है। जो जरूरी नहीं है वह है इस योजना का धीरे-धीरे गला घोंटा जाना। अभी तो मोदी सरकार यही करती प्रतीत हो रही है।

(लेखक पूर्व केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्री हैं)